विलक्षण साधारणता का कवि : नागार्जुन

डॉ. हरीश अरोड़ा
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नेहरू नगर, नई दिल्ली–110 065

हिन्दी साहित्य का ऐसा चिरयात्री, जिसने अपने फकीराना अंदाज और अनघड़ ज़िन्दगी के फलसफे को अपने साहित्य में बेबाकी से उतारा है, ऐसा साहित्यकार कबीर के बाद यदि कोई दूसरा है तो वह है 'नागार्जुन'। कृष्णा सोबती के साथ बातचीत के दौरान एक बार नागार्जुन ने कहा था – 'मैं साधारण हूँ, अपने को साधारण ही कहलवाना पसन्द करता हूँ। मैं तथाकथित विशिष्ट लेखकों की जमात में नहीं हूँ। सामान्य की कोशिश मेरी हड्डियों तक में रची–बसी है। विशिष्ट लेखक तो घुसे रहते हैं साहित्यिक गुफाओं में। घुसेड़े रहते हैं अपने को इन्टेलेक्चुअल बेसमेंट में, जब तक खुद ही गुफा न बन जाए, अंधेरे में ही रहेंगे ताकि अपना व्यक्तित्व उस पृष्ठभूमि में और चमके। कुछ अनोखा नज़र आए।'[1] वैद्यनाथ मिश्र उर्फ ठक्कर मिसिर उर्फ यात्री उर्फ नागार्जुन उर्फ बाबा ऐसे ही व्यक्ति थे। लेकिन अपने को साधारण कहलाने वाले वैद्यनाथ मिश्र उर्फ नागार्जुन की साधारणता भी विलक्षण थी। एक आम इंसान की तरह समाज की जीवनधारा में अपने को समाहित कर देने वाले वैद्यनाथ मिश्र ने तो जैसे किसी छटपटाहट को ज़िन्दगी भर के लिए ओढ़ कर रखा था। बदलते समय के साथ उनकी सोच और उनकी विचारधारा स्वयं उनसे टकराती और वे छटपटाते हुए अपनी विचारधारा से मुक्त होकर किसी नयी सोच को अपने साथ बाँध लेते।

अपने जीवन के आरम्भ में ही बनारस में संस्कृत के अध्ययन के साथ शब्दों और छंदों से मित्रता करने वाले वैद्यनाथ मिश्र को बदलते हुए समाज के कारण विश्व राजनीति को जानने की इच्छा हुई। धीरे–धीरे उनकी इस इच्छा ने उनकी परम्परागत ब्राह्मण पंथी को सोच को बदलने के लिए बाध्य कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों ने उनकी जीवन–धारा को एक नया मोड़ दिया। लेकिन थोड़े समय बाद ही आर्य–समाजी होते वैद्यनाथ मिश्र पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव पड़ा और उस चिरयात्री की यात्रा जीवन–दर्शन को समझने के लिए आरम्भ हो गई।

पहले बनारस, फिर कलकत्ता और फिर दक्षिण भारत की यात्रा करते हुए वैद्यनाथ मिश्र लंका (वर्तमान में श्रीलंका) के विश्व–विख्यात 'विद्यालंकार–परिवेण' में बौद्ध हो गए। इस परिवेश में उन्हे समाज–जीवन दर्शन के साथ–साथ विश्व राजनीति को जानने का अवसर मिला। बनारस से लंका की यात्रा ने वैद्यनाथ मिश्र को नागार्जुन बना दिया। उसी दौरान उन्हें महसूस हुआ कि इस समूचे जीवन–दर्शन का वास्तविक आधार आम–समाज है और इससे हटकर व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। बस इसी दर्शन को अपनी भीतर आत्मसात करके नागार्जुन निकल पड़े अपनी साहित्यिक यात्रा की पराकाष्ठा की ओर।

आखिर ऐसा क्या था जिसकी खोज़ के लिए उन्हें चिरयात्री बनना पड़ा? ऐसा कौन–सा दर्शन था जिसे वे आजन्म समझ न सके और बस उसी को जानने के लिए कभी यात्री, कभी आन्दोलनकारी, कभी साहित्यकार और कभी

विद्रोही बनना पड़ा? यह नागार्जुन के अपने भीतर की खोज नहीं थी, वे समाज के भीतर उसी की आत्मा को खोजने के लिए निकल पड़े। प्रभाकर श्रोत्रिय ने वर्ष 1984 में अपने लेख 'दूसरा कबीर' में इस सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुए लिखा कि – 'पिछले चालीस सालों में हिन्दुस्तान की जो राजनीति रही, समाज की, गरीब आदमी की जो हालत रही, जितनी तरह से अपघात आदमी के साथ हुए और दुनिया के नक्शे पर भी जो ऊधमें मचाई गई – वे सब या उनमें से अनेक नागार्जुन की कविताओं और उपन्यासों में एक चित्रशाला की तरह देखी जा सकती हैं – चित्रों के मुर्दाखाने की तरह नहीं, साक्षात्कार की चेतना से सम्पन्न दस्तावेजों की तरह। इनमें नागार्जुन की तकलीफ, घृणा, क्रोध, उत्तेजना और बदलाव की तीव्र आकांक्षा एक अग्नि–पिंड की तरह दहक रही है।'[2] इसलिए नागार्जुन की रचनाधर्मिता 'स्व' की नहीं बल्कि समूचे समाज के विसंगति बोध की रचनाधर्मिता है, उसमें व्याप्त अंतर्विरोधों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है।

नागार्जुन की कविता का सबसे बड़ा अंतर्विरोध धर्म की रूढ़ अवधारणा के विरुद्ध उनके आक्रोश और परम्परा के प्रति उनके प्रेम में दिखाई देता है। लेकिन परम्परा उनके लिए वर्तमान की ओर झाँकने का एक आधार थी इसीलिए वे राहुल सांकृत्यायन की तरह वर्तमान से अतीत की ओर नहीं जाते बल्कि अतीत से वर्तमान की ओर आते हैं। शायद यही कारण है कि वे किसी एक धर्म के प्रति पूरी तरह से स्थिर समर्पण नहीं रख पाए, ब्राह्मण होकर भी वे ब्राह्मण नहीं थे, आर्य–समाज के सिद्धांतों से प्रभावित होकर भी वे आर्य–समाजी नहीं थे, बुद्ध की शरण में जाकर भी वे पूर्ण बौद्ध नहीं बन पाए। माता लक्ष्मी को सम्बोधित करते हुए समाज में व्याप्त भेदभाव पर करारा व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा

जय–जय हे महारानी
दूध को करो पानी
आपकी चितवन है प्रभु की खुमारी
महलों में उजाला
कुटियों पर पाला
कर रहा तिमिर प्रकाश की सवारी।[3]

दरअसल नागार्जुन ने जिस जीवन–दर्शन की खोज के लिए चिरयात्री का चोला ओढ़ लिया वहीं घुमक्कड़ी प्रवृत्ति ही उनका वास्तविक धर्म बन गया। इसी घुमक्कड़ी धर्म ने उन्हें सामाजिक जीवन के राग को समझने और उनके विवेक को स्थापित करने में महती भूमिका निभाई। उनका यह विवेक किसी 'धर्म' का आधार लेकर नहीं बना बल्कि घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के कारण प्राप्त जीवनानुभवों ने उनके विवेक को गढ़ा। यही विवेक उनकी कविताओं में सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए वे अपने अंतर्विरोधों से जूझते हुए समाज की विसंगतियों को अपनी कविताओं में यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करते हैं। भारत की सामान्य जनता के उत्पीड़न और उसके शोषण की अभिव्यक्ति तथा सामाजिक–विसंगति–बोध को नागार्जुन अपनी कविताओं में उकेरते हैं –

खूब गए
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयोंवाले खुरदुरे पैर
धँस गए
कुसुम–कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश–कठोर पैर
दे रहे थे गति
रबड़–विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन–तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के फराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला

घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे।[4]

नागार्जुन जिस दौर में कविता लिख रहे थे वह दौर अनेक कविता आन्दोलनों का दौर था लेकिन नागार्जुन किसी कविता आन्दोलन की चारदीवारी में अपने को कैद नहीं रख सके और उन दीवारों को लांघकर अपनी कविताओं में जीवन की सहजता और यथार्थता को इतनी विलक्षण साधारणता से अभिव्यक्त करते दिखाई देते हैं कि समाज के उत्पीड़ित वर्ग (जिसमें किसान, मजदूर, शोषित वर्ग, गरीब आदि उत्पीड़ित वर्ग शामिल हैं) का यथार्थ उसका 'शाश्वत सौन्दर्य' बन जाता है। यथा –

कुली–मजदूर हैं
बोझा ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
धूल–धुआँ–भाप से पड़ता है साबक़ा
थके–माँदे–जहाँ–तहाँ हो जाते हैं ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन
आकर ट्राम के अंदर पिछले डब्बे में
बैठ गए हैं इधर–उधर तुमसे सटकर
आपस में उनकी बतकही
सच–सच बतलाओ
नागवार तो नहीं लगती है?
जी तो नहीं कुढ़ता है?
घिन तो नहीं आती है?[5]

लेकिन नागार्जुन को इस बात का क्षोभ है कि कवि समाज या बुद्धिजीवी वर्ग जिसे इस उत्पीड़ित–जन की चिंता होनी चाहिए वह निष्क्रिय हो गया है। एक ओर तो वे समाज के शोषित निम्नमध्य वर्ग के वास्तविक यथार्थ का चित्रण करते हैं वहीं वे छद्म यथार्थ के प्रणेता बुद्धिजीवी वर्ग पर भी अपना आक्रोश प्रकट करते हैं –

वे लोहा पीट रहे हैं,
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्थर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन? μ
उनींदी घड़ियों में चुरती है
वे हुलसित हैं
अपनी ही फसलों में डूब गये हैं
तुम हुलसित हो
चितकबरी चांदनियों में खोये हो
उनको दुख है
तरुण आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य–संकलन दीमक चाट गया है।[6]

उसी सर्वहारा का पक्षधर बनते हुए नागार्जुन दीनहीन शोषितों के विजयपर्व में अपने को सम्मिलित कर लेता है –

निकली थी वह विजयी मेहतरों की बारात
मस्त थे वे मांग मनवा लेने की खुशी में
चटपट कमरे से मैं भी निकला
किलबिल करते लाख चौरासी
जीवों के संभावित महामोक्ष की खुशी में
मेरे भी मुंह से निकल ही तो पड़ा
–जय हो बंभोला।[7]

शोषित–पीड़ित समाज की आवाज़ को बुलन्द करने और सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों को बचाए रखने के लिए कवि नागार्जुन अपने को पूरी तरह समाज के प्रति समर्पित कर देते हैं। उनकी यह प्रतिबद्धता उनकी कविता 'प्रतिबद्ध हूँ' में स्पष्ट दिखाई देती है

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ

अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया–धसान' के खिलाफ

अंध–बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए

अपने आप को भी 'व्यामोह' से बारंबार उबारने की खातिर

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ![8]

नागार्जुन की कविता की एक विशेषता यह भी है कि वह आधुनिक होते हुए भी आधुनिकता के प्रचलित प्रतिमानों को ही चुनौती देती है। आधुनिकता–बोध के युग में जहाँ कविता में अजनबीपन, अकेलापन, अनास्था, विसंगति बोध, व्यर्थताबोध, कुण्ठा, निराशा, हताशा आदि नकारात्मक प्रतिमानों को स्थान दिया जा रहा था वहीं नागार्जुन इन प्रतिमानों को अपनी कविता से बहिष्कृत कर देते हैं और आस्था तथा विश्वास को अपनी कविताओं में पूरी शक्ति से स्थान देते हैं–

मैं न अकेला, कोटि कोटि हैं मुझे जैसे तो

सबको ही अपना–अपना दुख है वैसे तो

पर दुनिया को नरक नहीं रहने देंगे हम![9]

नागार्जुन की कविताओं में जहाँ राजनीतिक वितण्डावादी स्थिति के विरुद्ध एक चीख सुनाई देती है तो वहीं परिस्थितियों का मौन सन्नाटे की टीस की तरह अव्यवस्था पर व्यंग्यात्मक प्रहार भी करता है। व्यंग्य उनकी कविता की मजबूती है। उनके व्यंग्य का सबसे बड़ा शिकार शासक वर्ग रहा है। इसीलिए उनकी व्यंग्यात्मक कविताओं में राजनीति और शोषक वर्ग का अन्तर्सम्बन्ध प्रमुख विषय रहा है। विशेष तौर पर 'नेहरू के परिवार में प्रकट होने वाली जगततारिणी' (इंदिरा गांधी) उनके व्यंग्य का सबसे अधिक शिकार हुई है। वे कहते हैं –

संविधान की रुई रुपहली भद्रलोक धुनते हैं

देवि, तुम्हारे स्टेनगनों से तरुण मुंड भुनते हैं

x x x

महंगाई की सुपनखा को कैसे पाल रही हो

सत्ता का गोबर जनता के मत्थे डाल रही हो..

पग–पग पर तुम लगा रही हो परिवर्तन के नारे

जन–युग की सतरंगी छलना, तुम जीती, हम हारे ...[10]

इतना ही नहीं उस जगततारिणी को 'धूप में पसर कर लेटी मोटी–तगड़ी अधेड़ मादा सुअर' कहने का साहस नागार्जुन जैसा कवि ही कर सकता है –

धूप में पसरकर लेटी है

मोटी–तगड़ी, अधेड़, मादा सुअर ....

जमना–किनारे

मखमली दूबों पर

पूस की गुनगुनी धूप में

पसरकर लेटी है

यह भी तो मादरे हिंद की बेटी है

भरे–पूरे बारह थनों वाली![11]

नागार्जुन का इंदिरा गांधी के प्रति यह तीखा आक्रोश थमता नहीं है। सन् 1975 में जे.पी. आन्दोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेने वाले नागार्जुन जब जेल से छूटकर आए तो उनका आक्रोश प्रबल हो चुका था। उन्होंने 'जाने, तुम कैसी डायन हो!', 'जय हो जय हो, हिटलर की नानी की जय हो!', 'किस चुड़ैल का मुँह फैला है!', 'महाकुबेरों की रखैल है' आदि द्वारा इंदिरा गांधी पर जो व्यंग्य प्रहार किया वह उनके साहस का प्रतीक है। 'खिचड़ी विप्लव हमने देखा' कविता संग्रह तो तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था के विरुद्ध व्यंग्योक्तियों का जीता–जागता प्रमाण

है। इसके अतिरिक्त हजार हजार बाहों वाली, घिन तो नहीं आती है?, चंदू मैंने सपना देखा, नेवला, उनको प्रणाम!, पैने दाँतोवाली, प्रेत का बयान, आओ रानी हम ढोएंगे पालकी, तीनों बंदर बापू के, मास्टर!, अग्निबीज आदि सैंकड़ों कवितायें उनकी प्रखर व्यंग्य शक्ति का परिचय कराने में समर्थ हैं। नामवर सिंह के अनुसार 'व्यंग्य की इस विदग्धता ने ही नागार्जुन की अनेक तात्कालिक कविताओं को कालजयी बना दिया है, जिसके कारण वे कभी बासी नहीं हुई और अब भी तात्कालिक बनी हुई हैं।'[12]

नागार्जुन किसान परिवार में जन्म लेने वाले कवि थे। अपनी चिरयात्रा में उन्होंने प्रकृति के अनन्य रूपों को अपने भीतर सँजोया। उनकी कविताओं में व्याप्त प्रकृति के अनूठे चित्र उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य–दृष्टि का एहसास कराते हैं। बादल और वर्षा तो जैसे कवि की चिरयात्रा के सहयात्री ही रहे हैं। उनकी कविता 'बादल को घिरते देखा है' हिन्दी कविता की सर्वश्रेष्ठ प्रकृतिपरक कविताओं में स्थान पाती है। यथा –

अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल का घिरते देखा है।
छोटे–छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।[13]

वर्षा ने तो जैसे समूचे वातावरण में ही नवसंचार भर दिया –

नभ में चौकड़ियाँ भरें भले
शिशु घन–कुरंग
खिलवाड़ देर तक करें भले
शिशु घन–कुरंग
लो, आपस में गुथ गए खूब
शिशु घन–कुरंग
लो, घटा जाल में गए डूब
शिशु घन–कुरंग
लो, बूँदें पड़ने लगीं, वाह
शिशु घन–कुरंग
लो, कब की सुधियाँ जगीं, आह
शिशु घन–कुरंग
फरवा सिहकी, फिर दीख गए
शिशु घन–कुरंग
शशि से शरमाना सीख गए
शिशु घन–कुरंग[14]

सच कहें तो नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति के अनेक रंग विद्यमान हैं। कहीं 'टहनी–टहनी में कंदुक सम झूले कदंब' हैं तो कहीं 'पकी–सुनहली फसलों की मुसकान' है', कहीं 'ढँके जा रहे देवदार की हरियाली को अरे दूधिया झाग' है तो कहीं 'धिन–धिन–धा धमक–धमक मेघ बजे' हैं। उनकी प्रकृतिपरक कविताओं में मेघ बजे, बादल को घिरते देखा है, महामना मेघराज, बलाका, सफेद बादल, दो पंचक, अब के इस मौसम में, फूले कदंब, बहुत दिनों के बाद, मेरी भी आभा है इसमें, फसल, नीम की दो टहनियाँ, फिसल रही चाँदनी, शिशिर की निशा, जान भर रहे हैं जंगल में, बच्चा चिनार, सोनिया समंदर आदि कुछ प्रमुख हैं।

जहाँ तक प्रश्न कवि नागार्जुन की काव्य चेतना या काव्य भाषा का है तो यह स्पष्ट है कि बहुभाषाविज्ञ नागार्जुन की कविताओं में उनके जीवन का अनुभव बोलता दिखाई देता है। आधुनिक कविता में जिस तरह से बौद्धिक व्यायाम की कविताओं की भरमार है लेकिन नागार्जुन की कविताएं समय की नब्ज पर हाथ रखकर लिखी

गई ऐसी कवितायें है जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त सहज, सरल और बोधगम्य हैं। विशेषणों के अभिनव प्रयोगों ने उनकी कविता को सम्प्रेषणीय बनाने में भरपूर योगदान दिया है। उनकी कुछ कवितायें तो इतनी सहज हैं कि जिनमें सहज अर्थबोध की क्षमता तो है ही लेकिन अर्थ के भीतर का विराट वैभव भी है। ये कवि नागार्जुन के अनुभव और सृजन के द्वंद्व की परिणति हैं।

अस्तु! स्पष्ट है कि नागार्जुन की कविता उनके अनुभव–संसार से उपजी कविता है। अपनी नीचे लिखी कविता के बारे में स्वयं नागार्जुन ने कहा कि वह उनके साहित्य का मेनिफिस्टो है –

नफरत की अपनी भट्ठी में
तुम्हें गलाने की कोशिश ही
मेरे अन्दर बार–बार ताकत भरती है

x x x

महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन μ
अष्टधातु के चूरे की छाई में फूंक भरूंगा
देखोगे, सौ बार मरूंगा
देखोगे, सौ बार जियूंगा
हिंसा मुझसे थर्रायेगी
मैं तो उसका खून पियूंगा
प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है अपने कवि का
जन–जन में जो ऊर्जा भर दे
मैं उद्‌गाता हूं उस रवि का।[15]

संदर्भ

- नागार्जुन, आलोचनाμ56–57, पृष्ठ 231
- प्रभाकर श्रोत्रिय, 'दूसरा कबीर', नागार्जुन, सं. सुरेन्द्रनाथ त्यागी, पृष्ठ 33
- नागार्जुन, हजार–हजार बाहों वाली, पृष्ठ 52
- नागार्जुन, खुरदरे पैर, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 35
- नागार्जुन, घिन तो नहीं आती है, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 36
- नागार्जुन, हजार–हजार बाहों वाली, पृष्ठ 42
- नागार्जुन, हजार–हजार बाहों वाली, पृष्ठ 64
- नागार्जुन, प्रतिबद्ध हूँ, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 15
- नागार्जुन, पुरानी जूतियों का कोरस, पृष्ठ 16
- नागार्जुन, तुमने कहा था, पृष्ठ 48–49
- नागार्जुन, पैने दाँतों वाली, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 80
- नामवर सिंह, 'भूमिका', नागार्जुन : प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 9
- नागार्जुन, बादल को घिरते देखा है, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 63
- नागार्जुन, घन–कुरंग, प्रतिनिधि कवितायें, पृष्ठ 69
- नागार्जुन, हजार–हजार बाहों वाली, पृष्ठ 11

Copyright © 2014. Dr. Harish Arora. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.